श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.18 - चतुर्थ सोपान (अर्थ)

श्रीभगवानुवाच

वनं(वृँ) विविक्षुः(फ्) पुत्रेषु, भार्यां(न्) न्यस्य सहैव वा ।

वन एव वसेच्छान्तस्- तृतीयं(म्) भागमायुषः ॥ 1॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- प्रिय उद्धव! यदि गृहस्थ मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में जाना चाहे, तो अपनी पत्नी को पुत्रों के हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ ही ले ले और फिर शान्त चित्त से अपनी आयु का तीसरा भाग वन में ही रहकर व्यतीत करे।

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्- मेध्यैर्वृत्तिं(म्) प्रकल्पयेत् ।

वसीत वल्कलं(वृँ) वासस्-तृणपर्णाजिनानि च ॥ 2॥

उसे वन के पवित्र कन्द-मूल और फलों से ही शरीर-निर्वाह करना चाहिये; वस्त्र की जगह वृक्षों की छाल पहिने अथवा घास-पात और मृगछाला से ही काम निकाल ले।

केशरोमनखश्मश्रु-मलानि बिभृयाद् दतः ।

न धावेदप्सु मज्जेत, त्रिकालं(म्) स्थण्डिलेशयः ॥ 3॥

केश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढ़ीरूप शरीर के मल को हटावे नहीं। दातुन न करे। जल में घुसकर त्रिकाल स्नान करे और धरती पर ही पड़ रहे।

ग्रीष्मे तप्येत पं(ञ्)चाग्नीन् , वर्षास्वासारषाड्जले ।

आकण्ठमग्नः(श्) शिशिरे, एवं(वृँ)वृत्तस्तपश्चरेत् ॥ 4॥

ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तपे, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रहकर वर्षा की बौछर सहे। जाड़े के दिनों में गले तक जल में डूबा रहे। इस प्रकार घोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करे।

अग्निपक्वं(म्) समश्नीयात्, कालपक्वमथापि वा ।

उलूखलाश्मकुट्टो वा, दन्तोलूखल एव वा ॥ 5॥

कन्द-मूलों को केवल आग में भूनकर खा ले अथवा समयानुसार पके हुए फल आदि के द्वारा ही काम चला ले। उन्हें कूटने की आवश्यकता हो तो ओखली में या सिल पर कूट ले, अन्यथा दाँतों से ही चबा-चबाकर खा ले।

स्वयं(म्) सं(ञ्)चिनुयात् सर्व- मात्मनो वृत्तिकारणम् ।

देशकालबलाभिज्ञो, नाददीतान्यदाऽऽहृतम् ॥ 6॥

वानप्रस्थाश्रमी को चाहिये कि कौन-सा पदार्थ कहाँ से लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये, कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं-इन बातों को जानकर अपने जीवन-निर्वाह के लिये स्वयं ही सब प्रकार के कन्द-मूल-फल आदि ले आवे। देश-काल आदि से अनभिज्ञ लोगों से लाये हुए अथवा दूसरे समय के संचित पदार्थों को अपने काम में न ले।

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्- निर्वपेत् कालचोदितान् ।

न तु श्रौतेन पशुना, मां(यँ) यजेत वनाश्रमी ॥ 7॥

नीवार आदि जंगली अन्न से ही चरु-पुरोडाश आदि तैयार करे और उन्हीं से समयोचित आग्रयण आदि वैदिक कर्म करे। वानप्रस्थ हो जाने पर वेदविहित पशुओं द्वारा मेरा यजन न करे।

अग्निहोत्रं(ञ्) च दर्शश्च, पूर्णमासश्च पूर्ववत् ।

चातुर्मास्यानि च मुने- राम्नातानि च नैगमैः ॥ 8॥

वेदवेत्ताओं ने वानप्रस्थी के लिये अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य आदि का वैसा ही विधान किया है, जैसा गृहस्थों के लिये है।

एवं(ञ्) चीर्णेन तपसा, मुनिर्धमनिसन्ततः ।

मां(न्) तपोमयमाराध्य, ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ 9॥

इस प्रकार घोर तपस्या करते-करते मांस सूख जाने के कारण वानप्रस्थी की एक-एक नस दीखने लगती है। वह इस तपस्या के द्वारा मेरी अराधना करके पहले तो ऋषियों के लोक में जाता है और वहाँ से फिर मेरे पास आ जाता है; क्योंकि तप मेरा ही स्वरूप है।

यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं(न्), तपो निः(श्)श्रेयसं(म्) महत् ।

कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्, बालिशः(ख्) कोऽपरस्ततः ॥ 10॥

प्रिय उद्धव! जो पुरुष बड़े कष्ट से किये हुए और मोक्ष देने वाले इस महान् तपस्या को स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि छोटे-मोटे फलों की प्राप्ति के लिये करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा? इसलिये तपस्या का अनुष्ठान निष्काम भाव से ही करना चाहिये।

यदासौ नियमेऽकल्पो, जरया जातवेपथुः ।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य, मच्चित्तोऽग्निं(म्) समाविशेत् ॥ 11॥

प्यारे उद्धव! वानप्रस्थी जब अपने आश्रमोचित नयमों का पालन करने में असमर्थ हो जाये, बुढ़ापे के कारण उसका शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्नियों को भावना के द्वारा अपने अन्तःकरण में आरोपित कर ले और अपना मन मुझ में लगाकर अग्नि में प्रवेश कर जाये।

यदा कर्मविपाकेषु , लोकेषु निरयात्मसु ।

विरागो जायते सम्यङ्, न्यस्ताग्निः(फ्) प्रव्रजेत्ततः ॥ 12॥

यदि उसकी समझ में यह बात आ जाये कि काम्य कर्मों से उनके फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, वे नरकों के समान ही दुःखपूर्ण हैं और मन में लोक-परलोक से पूरा वैराग्य हो जाये तो विधिपूर्वक यज्ञाग्नियों का परित्याग करके संन्यास ले ले।

इष्ट्वा यथोपदेशं(म्) मां(न्), दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ।

अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य, निरपेक्षः(फ्) परिव्रजेत् ॥13॥

जो वानप्रस्थी संन्यासी होना चाहे, वह पहले वेदविधि के अनुसार आठों प्रकार के श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञ से मेरा यजन करे। इसके बाद अपना सर्वस्व ऋत्विज को दे दे। यज्ञाग्नियों को अपने प्राणों में लीन कर ले और फिर किसी भी स्थान, वस्तु और व्यक्तियों की अपेक्षा न रखकर स्वच्छन्द विचरण करे।

विप्रस्य वै सं(न्)न्यसतो, देवा दारादिरूपिणः ।

विघ्नान् कुर्वन्त्ययं(म्) ह्यस्मा- नाक्रम्य समियात् परम् ॥ 14॥

उद्धव जी! जब ब्राह्मण संन्यास लेने लगता है, तब देवता लोग स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धियों का रूप धारण करके उसके संन्यास-ग्रहण में विघ्न डालते हैं। वे सोचते हैं कि 'अरे! यह तो हम लोगों की अवहेलना कर, हम लोगों को लाँघकर परमात्मा को प्राप्त होने जा रहा है'।

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः(ख्), कौपीनाच्छादनं(म्) परम् ।

त्यक्तं(न्) न दण्डपात्राभ्या- मन्यत् किं(ञ्)चिदनापदि ॥ 15॥

यदि संन्यासी वस्त्र धारण करे तो केवल लँगोटी लगा ले और अधिक-से-अधिक उसके ऊपर एक ऐसा छोटा-सा टुकड़ा लपेट ले कि जिसमें लँगोटी ढक जाये तथा आश्रमोचित दण्ड और कमण्डलु के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु अपने पास न रखे। यह नियम आपत्ति काल को छोड़कर सदा के लिये है।

दृष्टिपूतं(न्) न्यसेत् पादं(वँ्),वस्त्रपूतं(म्) पिबेज्जलम् ।

सत्यपूतां(वँ्) वदेद् वाचं(म्),मनः(फ्)पूतं(म्) समाचरेत् ॥ 16॥

नेत्रों से धरती देखकर पैर रखे, कपड़े से छानकर जल पिये, मुँह से प्रत्येक बात सत्यपूत-सत्य से पवित्र हुई ही निकाले और शरीर से जितने भी काम करे, बुद्धिपूर्वक-सोच-विचार कर ही करे।

मौनानीहानिलायामा, दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।

न ह्येते यस्य सन्त्यं(ङ्)ग, वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥ 17॥

वाणी के लिये मौन, शरीर के लिये निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिये प्राणायाम दण्ड हैं। जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं हैं, वह केवल शरीर पर बाँस के दण्ड धारण करने से दण्डी स्वामी नहीं हो जाता।

भिक्षां(ञ्) चतुर्षु वर्णेषु, विगर्ह्यान् वर्जयं(म्)श्चरेत् ।

सप्तागारानसं(ङ्)क्लृप्तां(म्)स्- तुष्येल्लब्धेन तावता ॥ 18॥

संन्यासी को चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितों को छोड़कर चारों वर्णों की भिक्षा ले। केवल अनिश्चित सात घरों से जितना मिल जाये, उतने से ही सन्तोष कर ले।

बहिर्जलाशयं(ङ्) गत्वा, तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ।

विभज्य पावितं(म्) शेषं(म्), भुं(ञ्)जीताशेषमाहृतम् ॥ 19॥

इस प्रकार भिक्षा लेकर बस्ती के बाहर जलाशय पर जाये, वहाँ हाथ-पैर धोकर जल के द्वारा भिक्षा पवित्र कर ले; फिर शास्त्रोक्त पद्धति से जिन्हें भिक्षा का भाग देना चाहिये, उन्हें देकर जो कुछ बचे उसे मौन होकर खा ले। दूसरे समय के लिये बचाकर न रखे और न अधिक माँगकर ही लाये।

एकश्चरेन्महीमेतां(न्),निः(स्)सं(ङ्)गः(स्) सं(यँ)यतेन्द्रियः ।

आत्मक्रीड आत्मरत, आत्मवान् समदर्शनः ॥ 20॥

संन्यासी को पृथ्वी पर अकेले ही विचरना चाहिये। उसकी कहीं भी आसक्ति न हो, सब इन्द्रियाँ अपने वश में हों। वह अपने-आप में ही मस्त रहे, आत्म-प्रेम में ही तन्मय रहे, प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थियों में भी धैर्य रखे और सर्वत्र समान रूप से स्थित परमात्मा का अनुभव करता रहे।

विविक्तक्षेमशरणो, मद्भावविमलाशयः ।

आत्मानं(ञ्) चिन्तयेदेक-मभेदेन मया मुनिः ॥ 21॥

संन्यासी को निर्जन और निर्भय एकान्त-स्थान में रहना चाहिये। उसका हृदय निरन्तर मेरी भावना से विशुद्ध बना रहे। वह अपने-आपको मुझसे अभिन्न और अद्वितीय, अखण्ड के रूप में चिन्तन करे।

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं(म्), मोक्षं(ञ्) च ज्ञाननिष्ठया ।

बन्ध इन्द्रियविक्षेपो, मोक्ष एषां(ञ्) च सं(यँ)यमः ॥ 22॥

वह अपनी ज्ञाननिष्ठा से चित्त के बन्धन और मोक्ष पर विचार करे तथा निश्चय करे कि इन्द्रियों का विषयों के लिये विक्षिप्त होना-चंचल होना बन्धन है और उनको संयम में रखना ही मोक्ष है।

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं(म्), मद्भावेन चरेन्मुनिः ।

विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो, लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं(म्) महत् ॥ 23॥

इसलिए संन्यासी को चाहिये कि मन एवं पाँचों ज्ञानेद्रियों को जीत ले, भोगों की क्षुद्रता समझकर उनकी ओर से सर्वथा मुँह मोड़ ले और अपने-आप में ही परम आनन्द का अनुभव करे। इस प्रकार वह मेरी भावना से भरकर पृथ्वी में विचरता रहे।

पुरग्रामव्रजान् सार्थान्, भिक्षार्थं(म्) प्रविशं(म्)श्चरेत् ।

पुण्यदेशसरिच्छैल-वनाश्रमवतीं(म्) महीम् ॥ 24॥

केवल भिक्षा के लिये ही नगर, गाँव, अहीरों की बस्ती या यात्रियों की टोली में जाये। पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन और आश्रमों से पूर्ण पृथ्वी में बिना कहीं ममता जोड़े घूमता-फिरता रहे।

वानप्रस्थाश्रमपदेष्- वभीक्ष्णं(म्) भैक्ष्यमाचरेत् ।

सं(म्)सिध्यत्याश्वसं(म्)मोहः(श्),शुद्धसत्त्वः(श्) शिलान्धसा ॥ 25॥

भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियों के आश्रम से ही ग्रहण करे; क्योंकि कटे हुए खेतों के दाने से बनी हुई भिक्षा शीघ्र ही चित्त को शुद्ध कर देती है और उससे बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

नैतद् वस्तुतया पश्येद्, दृश्यमानं(वँ) विनश्यति ।

असक्तचित्तो विरमे-दिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥ 26॥

विचारवान् संन्यासी दृश्यमान जगत् को सत्य वस्तु कभी न समझे; क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही नाशवान् है। इस जगत् में कहीं भी अपने चित्त को लगाये नहीं। इस लोक और परलोक में जो कुछ करने-पाने की इच्छा हो, उससे विरक्त हो जाये।

यदेतदात्मनि जगन्-मनोवाक्प्राणसं(म्)हतम् ।

सर्वं(म्) मायेति तर्केण, स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत् ॥ 27॥

संन्यासी विचार करे कि आत्मा में जो मन, वाणी और प्राणों का संघातरूप यह जगत् है, वह सारा-का-सारा माया ही है। इस विचार के द्वारा इसका बाध करके अपने स्वरूप में स्थित जो जाये फिर कभी उसका स्मरण भी न करे।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा, मद्भक्तो वानपेक्षकः ।

सलिं(ङ्)गानाश्रमां(म्)स्त्यक्त्वा, चरेदविधिगोचरः ॥ 28॥

ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्ष की भी अपेक्षा न रखने वाला मेरा भक्त आश्रमों की मर्यादा में बद्ध नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नों को छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्र के विधि-निषेधों से परे होकर स्वच्छन्द विचरे।

बुधो बालकवत् क्रीडेत्, कुशलो जडवच्चरेत् ।

वदेदुन्मत्तवद् विद्वान्, गोचर्यां(न्) नैगमश्चरेत् ॥ 29॥

वह बुद्धिमान होकर भी बालकों के समान खेले। निपुण होकर भी जड़वत् रहे, विद्वान होकर भी पागल की तरह बातचीत करे और समस्त वेद-विधियों का जानकार होकर भी पशुवृत्ति से (अनियत आचारवान्) रहे।

वेदवादरतो न स्यान्- न पाखण्डी न हैतुकः ।

शुष्कवादविवादे न, कं(ञ्)चित् पक्षं(म्) समाश्रयेत् ॥ 30॥

उसे चाहिये कि वेदों के कर्मकाण्ड-भाग की व्याख्या में न लगे, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्क से बचे और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न ले।

नोद्विजेत जनाद् धीरो, जनं(ञ्) चोद्वेजयेन्न तु ।

अतिवादां(म्)स्तितिक्षेत, नावमन्येत कं(ञ्)चन ।

देहमुद्दिश्य पशुवद्, वैरं(ङ्) कुर्यान्न केनचित् ॥ 31॥

वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मन में किसी भी प्राणी से उद्वेग न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणी को उद्विग्न न करे। उसकी कोई निन्दा करे, तो प्रसन्नता से सह ले; किसी का अपमान न करे। प्रिय उद्धव! संन्यासी इस शरीर के लिये किसी से भी वैर न करे। ऐसा वैर तो पशु करते हैं।

एक एव परो ह्यात्मा, भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।

यथेन्दुरुदपात्रेषु, भूतान्येकात्मकानि च ॥ 32॥

जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न पात्रों में अलग-अलग दिखायी देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियों में और अपने में भी स्थित है। सबकी आत्मा तो एक है ही, पंचभूतों से बने हुए शरीर भी सबके एक ही है, क्योंकि सब पांच भौतिक ही तो हैं।

अलब्ध्वा न विषीदेत, काले कालेऽशनं(ङ्)क्वचित् ।

लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमा- नुभयं(न्) दैवतन्त्रितम् ॥ 33॥

प्रिय उद्धव! संन्यासी को किसी दिन यदि समय पर भोजन न मिले, तो उसे दुःखी नहीं होना चाहिये और यदि बराबर मिलता रहे, तो हर्षित न होना चाहिये। उसे चाहिये कि वह धैर्य रखे। मन में हर्ष और विषाद दोनों प्रकार के विकार न आने दे; क्योंकि भोजन मिलना और न मिलना दोनों ही प्रारब्ध के अधीन हैं।

आहारार्थं(म्) समीहेत, युक्तं(न्) तत् प्राणधारणम् ।

तत्त्वं(वँ) विमृश्यते तेन, तद् विज्ञाय विमुच्यते ॥ 34॥

भिक्षा अवश्य माँगनी चाहिये, ऐसा करना उचित ही है; क्योंकि भिक्षा से ही प्राणों की रक्षा होती है। प्राण रहने से ही तत्त्व का विचार होता है और तत्त्वविचार से तत्त्वज्ञान होकर मुक्ति मिलती है।

यदृच्छयोपपन्नान्न-मद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।

तथा वासस्तथा शय्यां(म्),प्राप्तं(म्) प्राप्तं(म्) भजेन्मुनिः ॥ 35॥

संन्यासी को प्रारब्ध के अनुसार अच्छी या बुरी-जैसी भी भिक्षा मिल जाये, उसी से पेट भर ले। वस्त्र और बिछौने भी जैसे मिल जायें, उन्हीं से काम चला ले। उनमें अच्छेपन या बुरेपन की कल्पना न करे।

शौचमाचमनं(म्) स्नानं(न्), न तु चोदनया चरेत् ।

अन्यां(म्)श्च नियमान् ज्ञानी, यथाहं(लँ) लीलयेश्वरः ॥ 36॥

जैसे मैं परमेश्वर होने पर भी अपनी लीला से ही शौच आदि शास्त्रोक्त नियमों का पालन करता हूँ, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी शौच, आचमन, स्नान और दूसरे नियमों का लीला से ही आचरण करे। वह शास्त्रविधि के अधीन होकर-विधि-किंकर होकर न करे।

न हि तस्य विकल्पाख्या, या च मद्वीक्षया हता ।

आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस् -ततः(स्) सम्पद्यते मया ॥ 37॥

क्योंकि ज्ञाननिष्ठ पुरुष को भेद की प्रतीति ही नहीं होती। जो पहले थी, वह भी मुझ सर्वात्मा के साक्षात्कार से नष्ट हो गयी। यदि कभी-कभी मरणपर्यन्त बाधित भेद की प्रतीति भी होती है, तब भी देहपात हो जाने पर वह मुझसे एक हो जाता है।

दुःखोदर्केषु कामेषु, जातनिर्वेद आत्मवान् ।

अजिज्ञासितमद्धर्मो, गुरुं(म्) मुनिमुपाव्रजेत् ॥ 38॥

उद्धव जी! (यह तो हुई ज्ञानवान् की बात, अब केवल वैराग्यवान् की बात सुनो।) जितेन्द्रिय पुरुष, जब यह निश्चय हो जाये कि संसार के विषयों के भोग का फल दुःख-ही-दुःख है, तब वह विरक्त हो जाये और यदि वह मेरी प्राप्ति के साधनों को न जानता हो तो भगवच्चिन्तन में तन्मय रहने वाले ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण करे।

तावत् परिचरेद् भक्तः(श्),श्रद्धावाननसूयकः ।

यावद् ब्रह्म विजानीयान्-मामेव गुरुमादृतः ॥ 39॥

वह गुरु की दृढ़ भक्ति करे, श्रद्धा रखे और उसमें दोष कभी न निकाले। जब तक ब्रह्म का ज्ञान हो, तब तक बड़े आदर से मुझे ही गुरु के रूप में समझता हुआ उनकी सेवा करे।

यस्त्वसं(यँ)यतषड्वर्गः(फ्), प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।

ज्ञानवैराग्यरहितस्- त्रिदण्डमुपजीवति ॥ 40॥

किन्तु जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन, इन छहों पर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथि बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदय में न ज्ञान है और न तो वैराग्य, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासी का वेष धारणकर पेट पालता है तो वह संन्यास धर्म का सत्यानाश ही कर रहा है।

सुरानात्मानमात्मस्थं(न्), निह्नुते मां(ञ्)च धर्महा ।

अविपक्वकषायोऽस्मा-दमुष्माच्च विहीयते ॥ 41॥

और अपने पूज्य देवताओं को, अपने-आपको और अपने हृदय में स्थित मुझको ठगने की चेष्टा करता है। अभी उस वेषमात्र के संन्यासी की वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं; इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनों से हाथ धो बैठता है।भिक्षोर्धर्मः(श्) शमोऽहिं(म्)सा, तप ईक्षा वनौकसः ।

भिक्षोर्धर्मः(श्) शमोऽहिं(म्)सा, तप ईक्षा वनौकसः ।

गृहिणो भूतरक्षेज्या, द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ 42॥

संन्यासी का मुख्य धर्म है-शान्ति और अहिंसा। वानप्रस्थी का मुख्य धर्म है-तपस्या और भगवद्भाव। गृहस्थ का मुख्य धर्म है-प्राणियों की रक्षा और यज्ञ-याग तथा ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है-आचार्य की सेवा।

ब्रह्मचर्यं(न्) तपः(श्) शौचं(म्),सन्तोषो भूतसौहृदम् ।

गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः(स्), सर्वेषां(म्) मदुपासनम् ॥ 43॥

गृहस्थ भी केवल ऋतुकाल में ही अपनी स्त्री का सहवास करे। उसके लिये भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियों के प्रति प्रेमभाव-ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभी को करनी चाहिये।

इति मां(यँ) यः(स्) स्वधर्मेण, भजन् नित्यमनन्यभाक् ।

सर्वभूतेषु मद्भावो, मद्भक्तिं(वँ) विन्दते दृढाम् ॥ 44॥

जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभाव से अपने वर्णाश्रम धर्म के द्वारा मेरी सेवा में लगा रहता है और समस्त प्राणियों में मेरी भावना करता रहता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है।

भक्त्योद्धवानपायिन्या, सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सर्वोत्पत्त्यप्ययं(म्) ब्रह्म, कारणं(म्) मोपयाति सः ॥ 45॥

उद्धव जी! मैं सम्पूर्ण लोकों का एकमात्र स्वामी, सब की उत्पत्ति और प्रलय का परम कारण ब्रह्म हूँ। नित्य-निरन्तर बढ़ने वाली अखण्ड भक्ति के द्वारा वह मुझे प्राप्त कर लेता है।

इति स्वधर्मनिर्णिक्त- सत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो, नचिरात् समुपैति माम् ॥ 46॥

इस प्रकार वह गृहस्थ अपने धर्मपालन के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके मेरे ऐश्वर्य को-मेरे स्वरूप को जान लेता है और ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है।

वर्णाश्रमवतां(न्) धर्म, एष आचारलक्षणः ।

स एव मद्भक्तियुतो, निः(श्)श्रेयसकरः(फ्) परः ॥ 47॥

मैंने तुम्हें यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियों का धर्म बलताया है। यदि इस धर्मानुष्ठान में मेरी भक्ति का पुट लग जाये, तब तो इससे अनायास ही परम कल्याणस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाये।

एतत्तेऽभिहितं(म्) साधो, भवान् पृच्छति यच्च माम् ।

यथा स्वधर्मसं(यँ)युक्तो, भक्तो मां(म्) समियात् परम् ॥ 48॥

साधुस्वभाव उद्धव! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया और यह बतला दिया कि अपने धर्म का पालन करने वाला भक्त मुझ परब्रह्मस्वरूप को किस प्रकार प्राप्त होता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायां(म्) एकादशस्कन्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥

YouTube Full video link

https://youtu.be/h3YNaIbzcUE